मग़रिब की प्यास

('लार्ड लूथेन' का भाषण)

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०)

अनुवाद

एस० कौसर लईक़

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

'अल्लाह के नाम से जो बड़ा मेहरबान, बहुत रहमवाला है।'

दो शब्द

यह किताब अस्ल में मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह॰) के उस लेख का हिन्दी तर्जमा (अनुवाद) है जो उन्होंने मासिक तर्जमानुल-कुरआन मार्च 1938 ई॰ में 'लॉर्ड लूथेन का खुतबा' (भाषण) के नाम से प्रकाशित किया था। बाद में इसे मौलाना के उर्दू लेखन-संग्रह 'तनक़ीहात' में शामिल किया गया है।

जनवरी 1938 ई॰ में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के एक ख़ास समारोह के मौक़े पर यूरोप के एक मशहूर और क़ाबिल विचारक 'लॉर्ड लूथेन' ने जो तक़रीर की वह बड़ी अहम थी। उनकी क़ाबिले-तारीफ़ बात यह है कि उन्होंने बिना किसी झिझक और झूठी बरतरी और एहसास के अपनी ज़रूरत और अपनी प्यास को लोगों के सामने बयान कर दिया है और ख़ास बात यह है कि उन्होंने बातों-बातों में यह हक़ीक़त भी बयान कर दी कि उनकी ज़रूरत और प्यास भारतीय और पूर्व के लोग ही बुझा सकते हैं।

'लॉर्ड लूथेन' की ज़रूरत का ताल्लुक़ रूहानियत, मज़हब और अख़लाक़ी बातों से है। इसी लिए मौलाना मौदूदी (रह॰) ने उनकी समस्याओं का समाधान और उनकी प्यास बुझाने का सामान इस्लाम में पाया और उन्होंने भारतवासियों, ख़ासकर मुसलमानों को ध्यान दिलाया कि वे अपने पास मौजूद गुणकारी नुस्ख़े के द्वारा इनसानियत की प्यास बुझाने की कोशिश करें।

—नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

सेक्रेट्री इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (दिल्ली)

मग़रिब की प्यास

('लॉर्ड लूथेन' का भाषण)

जनवरी 1938 ई॰ के आख़िरी हफ़्ते में अलीगढ़ यूनिवर्सिटी कॉन्वोकेशन (दीक्षान्त समारोह) के मौक़े पर 'लॉर्ड लूथेन' ने जो ख़ुतबा दिया है, वह हक़ीक़त में इस क़ाबिल है कि हिन्दुस्तान के शिक्षित लोग—नए और पुराने दोनों—इसको गहरी नज़र से देखें और इससे सबक़ हासिल करें। इस ख़ुतबे में एक ऐसा आदमी हमारे सामने अपने दिल और दिमाग़ के परदे खोल रहा है, जिसने नए उलूम (आधुनिक शिक्षा) और उनकी पैदा की हुई तहज़ीब (सभ्यता) को दूर ही से नहीं देखा है, बल्कि ख़ुद उस तहज़ीब की गोद में जन्म लिया है और अपनी ज़िन्दगी के 56 वर्ष उसी समुद्र की ग़ोताख़ोरी में गुज़ारे हैं। वह पैदाइशी और ख़ानदानी यूरोपियन है। ऑक्सफ़ोर्ड में ऊँची तालीम पाए हुए है। 'राउण्ड टेबल' जैसी मशहूर पत्रिका का एडीटर रह चुका है और लगभग 21 साल से ब्रिटिश सरकार के अहम कामों में ज़िम्मेदार की हैसियत से हिस्सा लेता रहा है। वह कोई बाहर का देखनेवाला नहीं, बल्कि पश्चिमी तहज़ीब के अपने घर का आदमी है और वह हमसे बयान करता है कि इस घर में अस्ल ख़राबियाँ क्या हैं, किस वजह से हैं और उसके घर के लोग इस वक़्त हक़ीक़त में किस चीज़ के प्यासे हो रहे हैं?

एक हैसियत से यह ख़ुतबा हमारे आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों के लिए सबक़ हासिल करने के लायक़ है। क्योंकि इससे उनको मालूम होगा कि पश्चिमी शिक्षा और उसकी पैदा की हुई तहज़ीब में तमाम चीज़ें अच्छी ही नहीं है, बल्कि उसमें बहुत कुछ ज़हर भी

मिला हुआ है। जिन लोगों ने इस माजून को बनाया और सदियों इस्तेमाल किया, वे आज खुद आपको आगाह कर रहे हैं कि ख़बरदार! इस माजून की पूरी खुराक न लेना, यह हमें तबाही के किनारे पहुँचा चुकी है और तुम्हें भी तबाह करके रहेगी। हम खुद उस अमृत के मुहताज हैं, अगरचे हमें यक़ीन के साथ मालूम नहीं मगर गुमान ज़रूर ऐसा होता है कि वह अमृत तुम्हारे पास मौजूद है। कहीं ऐसा न हो कि तुम अपने अमृत को ख़ाक में मिलाकर हमारे इस ज़हर से भरे हुए माजून के मज़े लेने लग जाओ।

उलमा और मज़हबी लोग सोचें!

दूसरी हैसियत से इस खुतबे में हमारे उलमा और मज़हबी तबक़ों के लिए भी ग़ौरो-फ़िक्र करने का काफ़ी सामान है। इससे वे अन्दाज़ा कर सकेंगे कि इस वक़्त जिस दुनिया में वे ज़िन्दगी बिता रहे हैं उसके सामने इस्लामी शिक्षाओं के किन पहलुओं को उजागर करने की ज़रूरत है। यह दुनिया कई सदियों से भौतिकवाद की तहज़ीब का तजरिबा कर रही है और अब उससे थक चुकी है। सदियों पहले तहक़ीक़ की रूह और फ़िक्र की आज़ादी का जो अमृत हमने अंग्रेज़ों तक पहुँचाया था, उसको खुद उन्होंने सिर्फ़ अनजाने में अधार्मिकता और भौतिकता के ज़हर से गन्दा कर दिया और दोनों की मिलावट से एक नई तहज़ीब की माजून (सम्मिश्रण) तैयार की है। उस माजून की ख़ूबियाँ अपने ज़ोर से उन्हें तरक़्क़ी के आसमान पर उठा ले गईं। मगर उसका ज़हर भी बराबर अपना काम करता रहा। यहाँ तक कि अब उन ख़ूबियों पर ज़हर का असर पूरी तरह छा चुका है। इसके नतीजों को ख़ूब अच्छी तरह भुगत लेने के बाद अब वे फिर अमृत की और खुराक के लिए चारों तरफ़

नज़र दौड़ा रहे हैं। उनको मालूम हो चुका है कि उनकी माजून में ज़हरीले तत्त्व कौन-कौन-से हैं। उनको यह भी मालूम है कि इन तत्त्वों के मिलने से उनकी ज़िन्दगी पर क्या असर पड़ रहा है। वे अब यह भी साफ़ तौर से महसूस कर रहे हैं कि उन असरात को दूर करने के लिए किस तरह के अमृत की उन्हें ज़रूरत है। मगर सिर्फ़ यह बात उनको मालूम नहीं कि जो अमृत वे चाहते हैं वह इस्लाम के सिवा दुनिया में और किसी के पास नहीं और यह आख़िरी ख़ुराक भी उनको उसी दवाख़ाने से मिलेगी, जहाँ से पहली ख़ुराक मिली थी। इस मरहले पर पहुँच जाने के बाद भी अगर वे अमृत के लिए भटकते रहें और उसे न पाकर ज़हर से सारी दुनिया को ज़हरीला करते चले जाएँ तो इस बड़े गुनाह में उनके साथ इस्लाम के उलमा भी बराबर के साझीदार होंगे। उलमा के लिए अब यह वक़्त नहीं है कि वे इलाहियात, फ़ितरत से परे की चीज़ों और फ़िक़्ह वग़ैरा की छोटी-छोटी बातों की बहसों में लगे रहें। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) को ग़ैब का इल्म था या न था? ख़ुदा झूठ बोल सकता है या नहीं? रसूल का बदल मुमकिन है या नहीं? सवाब पहुँचाने और क़ब्रों की ज़ियारत की शरीअत में क्या हक़ीक़त है? नमाज़ में (सूरा-1 फ़ातिहा के बाद) ज़ोर से आमीन और रफ़ूए-यदैन (नमाज़ में हाथ कानों तक उठाना) किया जाए या न किया जाए? मस्जिद में मिम्बर व मेहराब के बीच कितना फ़ासला रखा जाए? ये और ऐसे ही बीसियों मसले जिनको तय करने में आज हमारे दीन के पेशवा अपनी सारी ताक़त बरबाद कर रहे हैं, दुनिया के लिए कोई अहमियत नहीं रखते और इनके तय हो जाने से हिदायत व गुमराही की उस अज़ीमुश्शान लड़ाई का ख़ातिमा नहीं हो सकता,

जो इस वक़्त सारी दुनिया में छिड़ी हुई है।

आज अस्ल ज़रूरत उन मसलों के समझने की है, जो ख़ुदा को न जानने और न मानने और मज़हब के इनकार की बुनियाद पर इल्म व सभ्यता के सदियों तक पलते-बढ़ते रहने से पैदा हो गए हैं। उनकी पूरी-पूरी खोजबीन करके इस्लाम के उसूलों के मुताबिक़ उनका क़ाबिले-अमल (व्यावहारिक) हल पेश करना वक़्त का अस्ल काम है। अगर इस्लाम के आलिमों ने अपने-आपको इस काम के करने के क़ाबिल न बनाया और इसे अंजाम देने की कोशिश न की तो यूरोप और अमेरिका का जो हश्र होगा सो होगा, ख़ुद इस्लामी दुनिया भी तबाह हो जाएगी, क्योंकि वही समस्याएँ जो पश्चिमी देशों के सामने हैं, तमाम मुस्लिम देशों और हिन्दुस्तान में पूरी शिद्दत के साथ पैदा हो चुकी हैं और उनका कोई सही हल न मिल पाने की वजह से मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम सब-के-सब उन लोगों के उलटे-सीधे नुस्ख़े इस्तेमाल करते चले जा रहे हैं, जो ख़ुद बीमार हैं। अब यह मामला सिर्फ़ यूरोप और अमेरिका का नहीं, बल्कि हमारे अपने घर और हमारी आनेवाली नस्लों का है।

इन वजहों से हम चाहते हैं कि हमारे आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोग और उलमा दोनों 'लॉर्ड लूथेन' के इस ख़ुतबे को ग़ौर से सुनें। बीच में ज़रूरत के मुताबिक़ हम व्याख्या करते जाएँगे ताकि बात की अस्ल तह तक पहुँचने में और ज़्यादा आसानी हो।

'लॉर्ड लूथेन' ने क्या कहा?

'लॉर्ड लूथेन' अपने ख़ुतबे की शुरुआत इस तरह करते हैं— "एक और बात ग़ौरो-फ़िक्र करने की है, जिसकी तरफ़ आज मैं आपको ध्यान दिलाना चाहता हूँ। क्या भारत आधुनिक दौर की

वैज्ञानिक और बौद्धिक शिक्षा के उस बड़े नुक़सान से बच सकता है, जिसमें यूरोप और अमेरिका आजकल फँसे हुए हैं?

पश्चिम में नई हिकमत से दो बड़े नतीजे सामने आए हैं। एक तरफ़ उसने प्रकृति और उसकी ताक़तों पर इनसान की पहुँच को बहुत ज़्यादा फैला दिया। दूसरी तरफ़ उसने यूनिवर्सिटियों के तालीम पाए हुए लोगों में और आम तौर पर सारी दुनिया में बाप-दादा से चले आ रहे मज़हब की सत्ता और उसके असर को कमज़ोर कर दिया है। आधुनिक जगत की कम-से-कम आधी ख़राबियाँ इन्हीं दो वजहों से पैदा हुई हैं। सभ्य आदमी उन ताक़तों के नशे में चूर हो गया है, जो साइंस ने उसको उपलब्ध कर दी हैं। मगर उसने ज्ञान और सभ्यता की तरक़्क़ी के साथ नैतिकता में समान तरक़्क़ी नहीं की, जो इस बात की ज़मानत हो सकती थी कि ये ताक़तें इनसान की तबाही के बजाय उसकी भलाई के लिए इस्तेमाल हों।"

इस भूमिका में विद्वान वक्ता ने अस्ल में इनसानी तहज़ीब और संस्कृति के एक बुनियादी मसले की तरफ़ इशारा किया है। विज्ञान मात्र विज्ञान होने की हैसियत से इसके सिवा कुछ नहीं कि वह तहक़ीक़ और इजतिहाद और तलाश व खोज की एक लगन है, जिसकी बदौलत इनसान की भौतिक दुनिया की छिपी हुई ताक़तों का हाल मालूम होता है और वह उनसे काम लेने के साधन जुटाता है। इस इल्म (विद्या) की तरक़्क़ी से जो नई ताक़तें इनसान को हासिल होती हैं, उनको जब वह अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में इस्तेमाल करने लगता है तो यह सभ्यता व संस्कृति की तरक़्क़ी कहलाती है। लेकिन ये दोनों चीज़ें ख़ुद इनसान की सफलता की

ज़मानत नहीं हैं। ये जिस तरह सफलता और कल्याण का ज़रिआ हो सकती हैं, उसी तरह तबाही की वजह भी हो सकती हैं। हाथ से काम करने के बजाय अगर इनसान मशीन से काम करने और हवाई जहाज़ों पर दौड़ने लगा, डाक चौकियों के बजाय अगर टेलीग्राम और वायरलेस से ख़बर पहुँचने लगी तो इसका मतलब यह नहीं है कि इनसान पहले से ज़्यादा खुशहाल हो गया। इन चीज़ों से जितनी उसकी खुशहाली बढ़ सकती है उतनी ही उसकी मुसीबत और तबाही भी बढ़ सकती है। क्योंकि जिस सभ्यता के दौर में इनसान के पास सिर्फ़ तीर और तलवार के हथियार थे, उसके मुक़ाबले में वह सभ्यता कई गुना ज़्यादा घातक हो सकती है, जिसमें उसके पास मशीनगनें और ज़हरीली गैसें, हवाई जहाज़ और समुद्र के अन्दर चलनेवाली कश्तियाँ हों। ज्ञान और सांस्कृतिक तरक़्क़ी का फ़ायदेमन्द व कल्याणकारी या विनाश की वजह बनना पूरी तरह उस तहज़ीब पर निर्भर है, जिसके असर में ज्ञान-कला और सभ्यता व नागरिकता का विकास होता है। विकास का रास्ता, इनसानी कोशिशों का मक़सद और हासिल की हुई ताक़तों के इस्तेमाल का क्षेत्र तय करनेवाली चीज़ अस्ल में सभ्यता और तहज़ीब है। यही इनसान और इनसान के आपसी ताल्लुक़ात की क़िस्म को तय करती है। यही अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के अख़लाक़ी क़ानून बनाती है और अन्ततः यही चीज़ इनसान के ज़ेहन को इस बात का फ़ैसला करने के लिए तैयार करती है कि इल्म की तरक़्क़ी से जो ताक़तें उसको हासिल हों, उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति में किस तरह से दाख़िल करे? किस मक़सद के लिए और किस तरह उनको इस्तेमाल करे? विभिन्न कामों में से किन को छोड़े और किन को

अपनाए? भौतिक जगत् (Physical World) से हासिल ज्ञान और प्राकृतिक क़ानूनों की जानकारी अपने-आप में किसी श्रेष्ठ एवं उच्च सभ्यता की बुनियाद नहीं बन सकती, क्योंकि उनके मुताबिक़ तो इनसान की हैसियत एक बुद्धि रखनेवाले पशु से अधिक नहीं है। उनकी मदद से सिर्फ़ वही ज़िन्दगी का नज़रिया क़ायम किया जा सकता है, जो भौतिकतावादियों का नज़रिया है। यानी यह कि इनसान के लिए ज़िन्दगी बस यही दुनिया की ज़िन्दगी है, इस ज़िन्दगी में अपनी हैवानी ख़ाहिशों को ज़्यादा-से-ज़्यादा कमाल के साथ पूरा करना उसके मक़सद की इन्तिहा है और संसार में जीवन-संघर्ष और स्वाभाविक चुनाव और अच्छी चीज़ों के बाक़ी रहने का जो क़ानून है, उसके मुताबिक़ ढल जाना और आसपास की तमाम मख़लूक़ (ईश्वर की पैदा की हुई चीज़ों) को कुचलकर ख़ुद सबपर हावी हो जाना ही ताक़त का अस्ल इस्तेमाल है। यूरोप ने जो सभ्यता अपनाई वह जीवन के इसी नज़रिए पर निर्भर थी और इसी का नतीजा यह हुआ कि इल्म और संस्कृति की तरक़्क़ी ने इनसान को जितनी ताक़तें पहुँचाईं, वे सब इनसानियत की कामयाबी के बजाय उसकी तबाही के रास्ते में इस्तेमाल होने लगीं। अब ख़ुद यूरोपवालों को महसूस होने लगा है कि इस हैवानी सभ्यता से ऊपर उठकर एक इनसानी सभ्यता की ज़रूरत है और उस तहज़ीब व सभ्यता की बुनियाद मज़हब के अलावा और कोई चीज़ नहीं बन सकती।

आगे चलकर 'लॉर्ड लूथेन' कहते हैं—

''वैज्ञानिक सोच ने यह ज़रूर किया कि धीरे-धीरे पुराने अंधविश्वासों को दूर कर दिया। ज्ञान के क्षेत्र को बढ़ा दिया और

इस तरह मर्दों और औरतों को उन बहुत-सी बन्दिशों से आज़ाद कर दिया, जिनमें वे पहले जकड़े हुए थे। मगर इसके साथ उसने यह भी किया कि इनसान को रूहानी और मज़हबी सच्चाइयों का सख़्त ज़रूरतमन्द बनाकर छोड़ दिया और उस सच्चाई तक पहुँचने का कोई रास्ता नहीं बताया। अकसर पश्चिम के लोगों का यह हाल है कि वे बच्चों की तरह तेज़ रफ़्तारी और अजीब व अनोखी जिस्मानी लज़्ज़तों के शौक़ में मग्न हैं। सादा ज़िन्दगी बसर करने की क़ाबिलियत उनसे छिन गई है और अमली तौर पर उनका कोई सम्बन्ध उस असीमित और हमेशा रहनेवाली सच्चाई से बाक़ी नहीं रहा, जिसे मज़हब पेश करता है।

मज़हब जो इनसान का हक़ीक़ी रहनुमा और इनसानी ज़िन्दगी के नैतिक मक़सद, भलाई और अस्ल सच्चाई का ज्ञान हासिल होने का एक अकेला ज़रिआ है, उसकी सत्ता में कमज़ोरी आ जाने का नतीजा हम देख रहे हैं कि पश्चिमी दुनिया उन राजनीतिक वर्गों अथवा श्रेणियों की दीवानी हो गई है, जो नस्ल व ज़ात-पात की बुनियादों पर क़ायम हैं और साइंस की उस सूरत पर ईमान ले आई है, जो सिर्फ़ भौतिक तरक़्क़ी को मक़सद का अन्तिम छोर ठहराती है और ज़िन्दगी को रोज़-ब-रोज़ उलझाती और भारी बोझ बनाए चली जाती है। फिर यह भी इसका नतीजा है कि आज यूरोप के लिए अपनी रूह और अपनी ज़िन्दगी में उस एकता का पैदा करना मुश्किल हो रहा है, जो उसको मौजूदा समय की सबसे बड़ी मुसीबत नैशनलिज़्म (राष्ट्रवाद) से नजात दिलाए।"

इसके बाद 'लॉर्ड लूथेन' ने हिन्दुस्तान के आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोगों के सामने यह सवाल पेश किया है—

"क्या हिन्दुस्तान के दो बड़े मज़हब—हिन्दुइज़्म और इस्लाम नए दौर की आलोचना व समीक्षा पर आधारित वैज्ञानिक विचारों का मुक़ाबला पश्चिम के मज़हबी पक्षपात् की तुलना में ज़्यादा कामयाबी के साथ कर सकेंगे? यह सबसे बड़ा और अहम सवाल है और अगर हिन्दुस्तान को उन समस्याओं से बचाना है जो पश्चिम में फैल चुकी हैं तो इस देश के इल्मी और मज़हबी लीडरों को इस सवाल पर ध्यान देना चाहिए। इसमें तो शक नहीं कि आधुनिक तहक़ीक़ धीरे-धीरे अंधविश्वास और अज्ञान का विनाश कर देगी, जो अब तक हिन्दुस्तान की जनता में फैले हुए हैं और यह बहुत अच्छा होगा, मगर क्या यह चीज़ दोनों मज़हबों के अख़लाक़ी व नैतिक उसूलों और रूहानियत (आध्यात्म) को भी उन लोगों के दिलो-दिमाग़ से निकाल देगी जो आगे चलकर हिन्दुस्तान की राजनीतिक, सांस्कृतिक और व्यावसायिक ज़िन्दगी के लीडर बननेवाले हैं। मैं हिन्दुइज़्म और इस्लाम की अन्दरूनी ज़िन्दगी से वाक़िफ़ होने का दावा नहीं करता, मगर मैं समझता हूँ कि ये दोनों अपनी-अपनी जगह ऐसी ख़ूबियाँ रखते हैं, जो उनमें से हर एक को यूनिवर्सिटियों में तालीम पानेवाले मर्दों और औरतों पर क़ाबू रखने के क़ाबिल बना सकेंगी। धारणा में कुछ ग़लत बन्दिशें होने की वजह से ईसाइयत तो इसमें नाकाम हो चुकी है। क्योंकि इन बन्दिशों ने इस मज़हब के महान संस्थापक की पेश की हुई सच्चाइयों को छिपा लिया।"

जैसा कि 'लॉर्ड लूथेन' ने ख़ुद क़बूल किया है और हक़ीक़त भी है कि उनको हिन्दू धर्म और इस्लाम के बारे में कुछ ज़्यादा जानकारी नहीं है। उन्होंने सिर्फ़ दूर से देखकर कुछ चीज़ें हिन्दू मज़हब में और कुछ चीज़ें इस्लाम मज़हब में ऐसी पाई हैं, जो उनके

नज़दीक आलोचना व समीक्षा पर आधारित आधुनिक विचारों के मुक़ाबले में शिक्षित लोगों को नैतिकता और रूहानियत (आध्यात्म) के सबसे बुलंद उसूलों पर क़ायम रखने में सफल हो सकती हैं। लेकिन जो लोग इन दोनों मज़हबों, बल्कि हिन्दुस्तान के तमाम मज़हबों का अन्दुरूनी ज्ञान रखते हैं, उनसे यह बात छिपी नहीं है कि आलोचना व समीक्षा पर आधारित वैज्ञानिक विचारों के मुक़ाबले में अगर क़ोई मज़हब ठहर सकता है, बल्कि अधिक सही लफ़्ज़ों में यह कि अगर कोई धर्म इस रूह के साथ अपने माननेवालों को लेकर आगे बढ़ सकता है और तरक़्क़ी कर सकता है और तरक़्क़ी व रौशनी के दौर में पूरी इनसानियत का मज़हब बन सकता है तो वह इस्लाम के सिवा और कोई नहीं है। ईसाइयत क्यों नाकाम हुई? सिर्फ़ इस वजह से कि वह कोई सामूहिक (Social) पंथ नहीं है, बल्कि सामूहिकता के ठीक विपरीत है। उसको सिर्फ़ व्यक्ति की नजात से बहस है और उसकी नजात का रास्ता भी उसने यह बताया है कि दुनिया से मुँह मोड़कर अपना रुख़ आसमानी बादशाहत की तरफ़ फेर ले। यही वजह है कि यूरोप की क़ौमों ने तरक़्क़ी के रास्तों पर क़दम बढ़ाया तो ईसाइयत उनकी मददगार होने के बजाय रुकावट बन गई और उन्हें उसकी बन्दिशों को तोड़कर आगे बढ़ना पड़ा। इसी से मिलता-जुलता हाल हिन्दू मज़हब का भी है। उसके पास भी कोई तरक़्क़ी देनेवाला सिद्धान्त व फ़लसफ़ा और अख़लाक़ का कोई अक़्ली क़ानून और कोई विकसित व्यवस्था नहीं है। सबसे बड़ी ताक़त जिसने अब तक हिन्दुओं को एक सामाजिक व्यवस्था में बाँधे रखा है और दूसरी सभ्यताओं का असर क़बूल करने से रोका है, वह उनकी वर्ण-

व्यवस्था (Caste System) है। मगर मौजूदा दौर की वैज्ञानिक सोच के सामने इस बंधन का टूटना यक़ीनी है और यह टूटकर रहेगा। इसके बाद कोई चीज़ हिन्दू समाज को टूटने से न बचा सकेगी और इसके बन्द दरवाज़े बाहरी असर क़बूल करने के लिए चौपट खुल जाएँगे। फिर हम यह भी देख रहे हैं कि हिन्दुओं के पुराने सामाजिक व सांस्कृतिक क़ानून, बुतपरस्ताना अंधविश्वास और उनके ग़ैर-अक़्ली और ग़ैर-इल्मी फ़लसफ़ियाना अनुमान व कल्पनाएँ आधुनिक दौर की इल्मी तरक़्क़ी और सामाजिक जागृति के सामने नहीं ठहर सकते। अब हिन्दू रोज़-ब-रोज़ एक ऐसे दोराहे के क़रीब पहुँचते जा रहे हैं जहाँ उनकी और बड़ी हद तक तमाम हिन्दुस्तान की क़िस्मत का फ़ैसला होगा। या तो वे इस्लाम के ख़िलाफ़ उसी ग़लतफ़हमी व भेद-भाव में गिरफ़्तार रहेंगे, जिसमें यूरोप के पुनर्जागरण (Renaissance) के मौक़े पर मसीही यूरोपवाले गिरफ़्तार थे और उसी तरह इस्लाम से मुँह फेरकर भौतिकतावादी सभ्यता का रास्ता अपनाएँगे, जिस तरह यूरोपवालों ने अपनाया या फिर फ़ौज-दर-फ़ौज इस्लाम में दाख़िल होते चले जाएँगे।

इस फ़ैसले की निर्भरता बड़ी हद तक मुसलमानों और ख़ास तौर पर उनके पुराने और नए तालीमयाफ़्ता लोगों के तर्ज़े-अमल (कार्य-प्रणाली एवं आचरण) पर है। इस्लाम अपने नाम से तो कोई चमत्कार नहीं दिखा सकता। उसके उसूल अगर सिर्फ़ किताब में लिखे हैं तो उनसे भी किसी चमत्कार का ज़ाहिर होना मुमकिन नहीं। जिस फूट, बिखराव और बेअमली की हालत में मुसलमान इस वक़्त पड़े हुए हैं, जो बेहिसी उनके उलमा पर छाई हुई है और जिस तरह के दूषित विचारों और कामों का इज़हार उनकी नई

शिक्षित नस्लों से हो रहा है, उससे हिन्दुस्तान की रूह (आत्मा) को ज़ीतना तो दूर की बात, यह भी उम्मीद नहीं की जा सकती कि इस्लाम के नाम-लेवा खुद अपनी जगह ही पर क़ायम रह जाएँगे। इंक़िलाब की तेज़ बाढ़ के बहाव में किसी जमाअत का अपनी जगह पर खड़ा रहना मुमकिन नहीं है। या उसको उस बहाव में बहना पड़ेगा या पूरी मर्दानगी के साथ उठकर सैलाब का मुँह फेर देना होगा। यह दूसरी सूरत सिर्फ़ उसी तरह सामने आ सकती है कि पहले तो आम मुसलमानों की अख़लाक़ी हालत सुधारी जाए और उनमें इस्लामी ज़िन्दगी की रूह फूँक दी जाए, दूसरे यह कि इस्लाम के आलिम और नए तालीमयाफ़्ता मुसलमान मिलकर इस्लाम के उसूलों के मुताबिक़ ज़िन्दगी के नए मसलों को समझें और इल्मी व अमली दोनों सूरतों में उनको इस तरह हल करके बताएँ कि अंधे पक्षपाती लोगों के सिवा हर अक़्ल रखनेवाले इनसान को मानना पड़ जाए कि एक तरक़्क़ी को पहुँची हुई संस्कृति के लिए इस्लामी सभ्यता के सिवा और कोई बुनियाद सही और बे-ऐब नहीं हो सकती।

हिन्दुस्तान में धर्म और साइंस के झगड़े की वह धारणा अब तक चली आ रही है, जो यूरोप में अब से पचास-साठ साल पहले थी। लेकिन यूरोप में नक़्शा बदल चुका है और यूरोप की नक़्ल करनेवाले हिन्दुस्तान में भी बहुत जल्दी नक़्शा बदल जानेवाला है। अतः वह समय क़रीब आ रहा है, जब मज़हब के ख़िलाफ़ कम-से-कम इल्मी व अक़्ली हैसियत से यह पक्षपात बाक़ी न रहेगा। लेकिन शर्त यह है कि हम उस वक़्त से फ़ायदा उठाने के लिए पहले से तैयार हों। इस हक़ीक़त की तरफ़ इशारा करते हुए 'लॉर्ड लूथेन'

कहते हैं—

"साठ साल पहले साइंस और मज़हब में ऐसा टकराव जारी था जिसके ख़त्म होने की उम्मीद न थी। ज़िन्दगी की आध्यात्मिक (रूहानी) कल्पना और मशीनी कल्पना के बीच ऐसी जंग जारी थी जिसके बारे में शक होता था कि दोनों में से किसी एक की मौत से पहले वह ख़त्म न होगी। मगर आज दोनों फ़रीक़ों ने डगें डाल दी हैं। न वैज्ञानिक और न मज़हबी दोनों में से कोई भी आज इस ज़ोर के साथ यह दावा नहीं करता कि उसने संसार का रहस्य हल कर लिया है, बल्कि हक़ीक़त में दोनों के दिल में यह शक पैदा हो चुका है कि क्या वे इस रहस्य के बारे में कुछ जानते भी हैं या नहीं। इसलिए अब एक ऐसी सम्मिश्रण की सम्भावना हो चुकी है कि जो इल्मी तहक़ीक़ के नए-नए ज़ोर-शोर में नामुमकिन नज़र आती थी।"

'लॉर्ड लूथेन' बहरहाल मज़हब की उस धारणा से आज़ाद नहीं हैं, जो ईसाइयत में पाई जाती है और मज़हब की वह अक़्ली धारणा उन तक पहुँची ही नहीं है जिसको इस्लाम ने पेश किया है, इसलिए वे ज़्यादा-से-ज़्यादा सिर्फ़ यही सोच सकते हैं कि मज़हब और साइंस में अब कोई मेल-मिलाप व मिश्रण हो सकता है। लेकिन हम मज़हब व साइंस के मिलने को बेमानी समझते हैं। हमारी नज़र में तो अस्ल मज़हब वह है, जो साइंस की रूह और उसका मार्गदर्शन करनेवाली ताक़त बन जाए। इस्लाम अस्ल में एक ऐसा ही मज़हब है और आज इसको साइंस की रूह बनने से अगर कोई चीज़ रोके हुए है तो वह उसकी अपनी अन्दरूनी कमी नहीं है, बल्कि उसके माननेवालों की ग़फ़लत और मौजूदा साइंस के अलमबरदारों की

जिहालत और जाहिलाना पक्षपात है। ये दो वजहें दूर हो जाएँ तो फिर इस्लाम साइंस की जान ही बनकर रहेगा।

आगे चलकर क़ाबिल वक्ता ने इस बात पर बहस की है कि मौजूदा दौर की इल्मी बेदारी और अक़्ली समीक्षा के सामने किस क़िस्म का मज़हब ठहर सकता है? इनसान इस रौशनी के दौर में जिस मज़हब की माँग कर रहा है, उसकी विशेषता क्या होनी चाहिए? और इस वक़्त इनसान की असली ज़रूरतें क्या हैं, जिनके लिए वह मज़हब का मार्गदर्शन ढूँढ रहा है? यह इस ख़ुतबे का सबसे ज़्यादा ध्यान देने लायक़ हिस्सा है—

"अगर मैं हालात का ग़लत अंदाज़ा नहीं कर रहा हूँ तो यह हक़ीक़त है कि जो इम्तिहान इस समय मज़हब के सामने है, उससे वह सिर्फ़ उसी रूप में कामयाबी के साथ गुज़र सकता है, जबकि नई नस्ल इसकी अन्दुरूनी व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करके इस बात का पूरा इत्मीनान कर ले कि ज़िन्दगी में जिन अमली और व्यावहारिक समस्याओं और परेशानियों से वह जूझ रही है, उनका बेहतरीन हल इस मज़हब में मौजूद है। शख़्सी (वैयक्तिक) मज़हब का दौर अब गुज़र चुका है। सिर्फ़ जज़बाती (भावनात्मक) मज़हब की भी अब किसी को ज़रूरत नहीं। इस तरह के मज़हब का ज़माना भी अब नहीं रहा, जो एक आदमी को सिर्फ़ इस हद तक तसल्ली और सहारा दे सकता हो कि उसके अख़लाक़ी अथवा नैतिक व्यवहार के लिए कुछ हिदायतें दे दे और एक ऐसी मुक्ति की उम्मीद दिला दे जिसका हाल मरने के बाद ही खुल सकता है। मौजूदा ज़माने का साइंटिफ़िक आदमी तो हर चीज़ को, यहाँ तक कि ख़ुद सच्चाई को भी स्पष्ट परिणामों की कसौटी पर परखकर

देखना चाहता है। अगर उसको मज़हब की पैरवी करनी है तो वह माँग करता है कि मज़हब उसको यह बताए कि वह उसकी ज़िन्दगी के व्यावहारिक मसलों का अपने पास क्या हल रखता है। बहुत-से जन्मों के बाद आख़िरकार मुक्ति हासिल होने की उम्मीद, या मौत के दरवाज़े से गुज़र जाने के बाद आसमानी बादशाहत में पहुँच जाने की उम्मीद ऐसी चीज़ नहीं है कि सिर्फ़ इसी आधार पर वह धर्म को क़बूल कर ले। उसकी दार्शनिक जुस्तुजू के लिए धर्म को सबसे पहले तो वह कुँजी मिलनी चाहिए। जिससे वह जगत् के रहस्य का कोई संतोषजनक हल पा सके। फिर उसे ठीक-ठीक वैज्ञानिक तरीक़े पर कारण और परिणाम का स्पष्ट सम्बन्ध साबित करते हुए यह दिखाना चाहिए कि इनसान उन ताक़तों को किस तरह क़ाबू में लाए जो इस समय बेक़ाबू होकर इनसानियत को फ़ायदा पहुँचाने के बजाय तबाह कर देने की धमकियाँ दे रही हैं। और किस तरह वह बेरोज़गारी, अबौद्धिक, असमानता, ज़ुल्म और अत्याचार, आर्थिक लूट, जंग और दूसरी सामूहिक ख़राबियों का ख़ातिमा करे और लोगों की आपसी कशमकश और ख़ानदानी व्यवस्था की रंजिशों को किस तरह रोके, जिसने इनसान की ख़ुशियों का अन्त कर दिया है।

इनसान आज सिर्फ़ इस वजह से धर्म की तरफ़ देख रहा है कि साइंस ने इसकी मुश्किलों को हल करने के बजाय और अधिक बढ़ा दिया है। इसलिए वह धर्म से अपने शक और अपनी मुश्किलों का हल पानें के लिए इतना बेचैन है जितना इससे पहले कभी न था। अब अगर मज़हब अपने मक़ाम की हिफ़ाज़त और अपने खोए हुए मैदान को दोबारा हासिल करना चाहता है तो उसे इन सवालों का

आध्यात्मिक और वैज्ञानिक जवाब देना चाहिए, जिसकी सेहत को परिणामों के पैमाने पर इसी दुनिया में जाँचा और परखा जा सके। मौत के बाद दूसरी दुनिया पर न उठा रखा जाए। हम पश्चिमी दुनियावाले जानते हैं कि यह सबसे बड़ा सवाल है, जो हमारे इस दौर में सामने आया है। क्या आप हिन्दुस्तान में इसका जवाब दे सकते हैं?''

'लॉर्ड लूथेन' की तक़रीर का यह हिस्सा पढ़ते समय बिलकुल ऐसा मालूम होता है जैसे कोई प्यासा है, जिसे पानी का ज्ञान तो नहीं, मगर वह अपनी प्यास की हालत को ठीक-ठीक महसूस कर रहा है और बताता जाता है कि मेरे जिगर की आग कोई ऐसी चीज़ माँगती है जिसमें ये ख़ूबियाँ मौजूद हों। अगर पानी उसके सामने लाकर रख दिया जाए तो उसकी फ़ितरत तुरन्त पुकार उठेगी कि जिस चीज़ का वह प्यासा है वह यही चीज़ है और लपककर उसे मुँह में लगा लेगा। यह हाल सिर्फ़ 'लॉर्ड लूथेन' ही का नहीं है, बल्कि यूरोप और अमेरिका और सारी दुनिया में जो लोग मौजूदा सभ्यता और संस्कृति की गर्मी से ख़ूब तप चुके हैं और दर्शन (फ़लसफ़ा) और साइंस के रेगिस्तान में किनारे की हरियालियों से गुज़रकर बीच की भयानक हक़ीक़तों तक पहुँच चुके हैं, उन सबको आज यही प्यास महसूस हो रही है। सब इन्हीं ख़ूबियोंवाली चीज़ माँग रहे हैं, जिनका ज़िक्र 'लॉर्ड लूथेन' ने किया है और उन सबका यही हाल है कि पानी का नाम नहीं जानते, यह भी नहीं जानते कि वह कहाँ पाया जाता है, मगर वे रह-रहकर पुकारते हैं—

''जिगर की बुझे आग जिससे वह शै (चीज़) ला।''

पानी का नाम उन्होंने सुना तो ज़रूर है। मगर उस नाम से वे

सिर्फ़ इसलिए घबराते हैं कि अस्ल चीज़ को उन्होंने खुद देखा नहीं है और अपने अज्ञानी और पक्षपात में पड़े बुज़ुर्गों और पूर्वजों से सुनते यही चले आ रहे हैं कि ख़बरदार पानी के क़रीब भी न जाना। यह एक बड़ी ज़हरीली चीज़ का नाम है, लेकिन अब ये उस मोड़ पर पहुँच गए हैं कि अगर नाम छिपाकर अस्ल चीज़ को उनके सामने रख दिया जाए तो पुकार उठेंगे कि हाँ! ठीक यही वह चीज़ है जिसके हम प्यासे हैं। इसके बाद जब उन्हें बताया जाएगा कि महोदय! यह वही 'पानी' है, जिसके नाम से आप घबराते थे तो हैरत से उनका मुँह खुला रह जाएगा और कहेंगे कि कैसा धोखा था जिसमें हम पड़े हुए थे!

मौजूदा समय का 'वैज्ञानिक आदमी' ईसाइयत को ख़ूब चख और परख चुका है और यह बात उसपर पूरी तरह खुल चुकी है कि वह उसके मरज़ की दवा नहीं है। हिन्दूमत और बुद्धमत के ख़याली दर्शन और उनकी ऐतिहासिक रूढ़िवादिता को देखकर वह कभी-कभी उनकी तरफ़ खिंच जाता है, मगर वैज्ञानिक समीक्षा एवं मंथन की पहली ही परीक्षा में उनकी असफलता खुलकर रहती है। बुद्धमत तो लगभग ईसाइयत का हिन्दू संस्करण है। रहा हिन्दूमत तो वह स्वयं उन मुश्किलों और उलझनों को पैदा करता है, जिनसे निकलने ही के लिए मौजूदा दौर का वैज्ञानिक आदमी मज़हब की ज़रूरत महसूस कर रहा है। इनसान और इनसान में ग़ैर-अक़्ली भेद-भाव सबसे ज़्यादा उसी के अन्दर पाया जाता है। आर्थिक लूट का सबसे बुरा रूप यानी महाजनी और ब्याज का खाना उसकी व्यवस्था का एक अटूट हिस्सा बन चुकी है। जंग की अस्ल वजह यानी इनसान का नस्ली तौर पर बँट जाना और नस्ल के आधार पर नफ़रत उसकी

घुट्टी में पड़ी हुई है। सामूहिक ज़िन्दगी के लिए जो व्यवस्था उसने क़ायम की है, वह इनसानों को मिलानेवाली नहीं, बल्कि अनगिनत तबक़ों, गोत्रों और वर्गों में बाँटनेवाली है। उसके सामाजिक क़ानून इतने जर्जर हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक और व्यावहारिक जागरुकता के दौर में खुद हज़ारों वर्ष के ख़ानदानी हिन्दू उन क़ानूनों को तोड़ने पर मजबूर हो रहे हैं, क्योंकि उनकी बुनियाद ज्ञान और बुद्धि पर नहीं, बल्कि पक्षपात और अंधविश्वास पर है। इन सांसारिक मसलों से ऊपर नैतिकता और ईश्वर के वुजूद की धारणा के मामले में वह इससे भी ज़्यादा नाक़िस पाया जाता है। संसार के रहस्य को संतोषजनक तरीक़े पर हल करने के लिए उसके पास कोई कुंजी नहीं। उसके अक़ीदे केवल आस्था से सम्बन्ध रखते हैं; व्यावहारिक या अक़्ली सुबूत इनमें से किसी चीज़ का नहीं दिया जा सकता। नैतिकता के बारे में वह दिल को खुश कर देनेवाले अनुमान पर आधारित एक फ़र्ज़ी कल्पना ज़रूर बनाता है, जैसा कि मिसाल के तौर पर महात्मा गाँधी ने बना रखा है, किन्तु अक़्ली दलील और व्यवहारिकता (Practical Wisdom) से उसका दामन ख़ाली है। मौजूदा वैज्ञानिक तरक़्क़ी के दौर में उसकी नाकामी अगर खुली नहीं तो अन-क़रीब खुल जाएगी।

इसके बाद मैदान में सिर्फ़ इस्लाम रह जाता है और वही उन पैमानों में से एक-एक पर पूरा उतरता है जो आजकल 'साइंटिफ़िक आदमी' अपनी ज़रूरत के उस मज़हब की पहचान के लिए पेश कर रहा है या कर सकता है।

यह बात कि मज़हब एक ज़ाती मामला है और सिर्फ़ वैयक्तिक अन्तरात्मा (ज़मीर) ही से उसका ताल्लुक़ है। अब एक पुरानी बात

हो चुकी है। यह उन्नीसवीं सदी की बहुत-सी ग़लत विचारधाराओं में से एक थी, जिसे बीसवीं सदी की इस चौथी दहाई में भी हिन्दुस्तान के कुछ रूढ़िवादी अब तक रटे जा रहे हैं जो आधुनिकता के दावे के बावजूद हमेशा दुनिया से पचास साल पीछे चलने के आदी हैं। अब क़रीब-क़रीब यह बात साबित हो चुकी है कि व्यक्ति की आस्था व धारणा संगठन से अलग नहीं की जा सकती। हर व्यक्ति दूसरे के साथ बेशुमार छोटे-बड़े रिश्तों व मामलात में जकड़ा हुआ है और सोसाइटी सामूहिक दृष्टि से एक जिस्म की हैसियत रखती है, जिसमें व्यक्ति की हैसियत ज़िन्दा जिस्म के हिस्सों जैसी है। मज़हब की ज़रूरत अगर है तो वह सिर्फ़ व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा (ज़मीर) के इत्मीनान और मृत्यु के बाद अपनी मुक्ति ही के लिए नहीं, बल्कि पूरे समूह और संगठन को अपनी व्यवस्था और अपनी सांसारिक ज़िन्दगी के सारे कारोबार चलाने के लिए है और अगर इस चीज़ की ज़रूरत नहीं है तो व्यक्ति को भी नहीं है और संगठन व समूह को भी नहीं है। यह सोच सरासर एक बचकाना सोच है कि सामूहिक ज़िन्दगी की व्यवस्था कुछ और हो और उस व्यवस्था से अलग होकर व्यक्ति के मज़हबी अक़ीदे और उसके मज़हबी काम कुछ और हों। मज़हबी अक़ीदों और मज़हबी कामों का कोई रिश्ता अगर सामूहिक ज़िन्दगी से न हो तो ऐसे अक़ीदे और काम बेमानी हैं और सिर्फ़ बेमानी ही नहीं हैं, बल्कि एक ऐसी सामूहिक व्यवस्था में उनका बेकार व ख़त्म हो जाना यक़ीनी है, जिसके दूसरे हिस्सों के साथ वह आपसी तालमेल (Interaction) क़बूल न करते हों। इसलिए दो शक्लों में से आख़िरकार कोई एक ही शक्ल हो सकती है। या तो पूरे समूह या संगठन की व्यवस्था

पूरी तरह मज़हब से ख़ाली हो और मज़हब को पूरी तरह इनसान की ज़िन्दगी से निकाल दिया जाए, जैसा कि साम्यवादियों (Communists) का पंथ है या फिर सामूहिक व्यवस्था पूरी-की-पूरी मज़हबी हो और ज्ञान और संस्कृति दोनों के लिए मज़हब को मार्गदर्शन माना जाए, जैसा कि इस्लाम तक़ाज़ा करता है। पहली शक्ल का अनुभव दुनिया बहुत लम्बे समय तक कर चुकी है उससे वही कड़वे फल पैदा हो सकते थे, वही पैदा हुए और वही आइंदा भी पैदा होंगे जिनका ज़िक्र 'लॉर्ड लूथेन' ने किया है। अब दुनिया की नजात सिर्फ़ दूसरी शक्ल में है और अमली मैदान में इसकी शुरुआत होने के अवसर दिन-प्रतिदिन पैदा होते जा रहे हैं।

मगर जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि इन मौक़ों से फ़ायदा उठाना या उनको हमेशा के लिए खो देना मुसलमानों के हाथ में है। घटनाओं की रफ़्तार दुनिया को और दुनिया का एक अंग होने के नाते भारत को भी एक ऐसे मक़ाम पर ले आई है, जहाँ से वह इस्लाम की तरफ़ भी मुड़ सकते हैं और भौतिकवाद और नैतिक बिगाड़ के भयानक गर्त की तरफ़ भी। स्वाभाविक रूप से उसका रुख़ अभी तक दूसरे रास्ते की तरफ़ है, क्योंकि इस रास्ते पर वह एक लम्बे समय से बढ़ती चली आ रही है। हालाँकि इस रास्ते के घोर नुक़सान देख-देखकर वह सहम रही है और चारों तरफ़ घबरा-घबराकर देखती है कि कोई बचाव की राह भी है या नहीं, मगर बचाव की राह खुद उसकी अपनी निगाहों से ओझल है — वह हक़ीक़त में इस वक़्त ऐसे लीडरों की मुहताज है जो ताक़त के साथ उठकर उसकी निगाहों पर से परदा उठा दें और इस्लाम के सीधे मार्ग को एकमात्र मुक्ति-मार्ग सिद्ध कर दें। एक ऐसी संघर्षशील

और मौजूदा दौर में इस्लाम को सही तौर पर पेश करनेवाली जमाअत अगर मुसलमानों में पैदा हो जाए तो मुसलमान पूरी दुनिया के पेशवा बन सकते हैं। उनको इज़्ज़त का वही मक़ाम फिर हासिल हो सकता है, जिसपर वे कभी विराजमान थे और जिस मक़ाम और रुतबे पर पश्चिमी क़ौमों को खड़ा देखकर आज उनके मुँह में पानी भरा चला आ रहा है। लेकिन अगर इस क़ौम के बड़े लोग इसी तरह कायरता और बेहिम्मती के साथ बैठे रहे, अगर इसके नौजवान यूँ ही जूठन खाने को अपनी क़ाबिलियत की इन्तिहा समझते रहे, अगर इसके उलमा अपनी उन्हीं पुरानी फ़िक़्ह और तर्क-वितर्क की बेकार बहसों में उलझे रहे, अगर उनके नेताओं और पेशवाओं की ख़राब ज़ेहनियत का यही हाल रहा कि ग़ैरों की फ़ौज के पीछे लग चलने को बहादुरी का सबसे ऊँचा मर्तबा समझें और बीसवीं सदी के सबसे बड़े धोखे में अपनी क़ौम को फँसाना होशियारी व कमाल समझें, मतलब यह कि अगर इस क़ौम के हाथ-पैर से लेकर दिलो-दिमाग़ तक सब-के-सब बे-मतलब और बेकार कामों ही में पड़े रहें और इस करोड़ों की भीड़ से ख़ुदा के कुछ बहादुर बन्दे भी उसकी राह में संघर्ष और इस्लाम को सही तौर पर पेश करने का मिशन लेकर न उठ सकें, तो फिर दुनिया जिस रुसवाई व गुमराही के भयानक गर्त की तरफ़ जा रही है, उसी में यह क़ौम भी दुनिया की दुम के साथ बँधी-बँधी जा गिरेगी और अल्लाह का ग़ज़ब एक बार फिर पुकारेगा—

अला बुअ्दल्लिक़ौमिज़्ज़ालिमीन

(सुन लो, ज़ालिम क़ौम दूर हो!)